

ॐ श्रीमद्भगवद्गीता ॐ

अथ प्रथमोऽध्यायः - अर्जुनविषादयोग	2
अथ द्वितीयोऽध्यायः - सांख्ययोग	7
अथ तृतीयोऽध्यायः - कर्मयोग	16
अथ चतुर्थोऽध्यायः - ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	21
अथ पंचमोऽध्यायः - कर्मसंन्यासयोग	27
अथ षष्ठोऽध्यायः - आत्मसंयमयोग	30
अथ सप्तमोऽध्यायः - ज्ञानविज्ञानयोग	36
अथाष्टमोऽध्यायः - अक्षरब्रह्मयोग	40
अथ नवमोऽध्यायः - राजविद्याराजगुह्ययोग	44
अथ दशमोऽध्याय - विभूतियोग	48
अथैकादशोऽध्यायः - विश्वरूपदर्शनयोग	53
अथ द्वादशोऽध्यायः - भक्तियोग	60
अथ त्रयोदशोऽध्यायः - क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग	63
अथ चतुर्दशोऽध्यायः - गुणत्रयविभागयोग	68
अथ पंचदशोऽध्यायः - पुरुषोत्तमयोग	72
अथ षोडशोऽध्यायः - दैवासुरसम्पद्विभागयोग	75
अथ सप्तदशोऽध्यायः - श्रद्धात्रयविभागयोग	79
अथाष्टादशोऽध्यायः - मोक्षसंन्यासयोग	82

ॐ श्रीमद्भगवद्गीता ॐ

अथ प्रथमोऽध्यायः - अर्जुनविषादयोग

(दोनों सेनाओं के प्रधान-प्रधान शूरवीरों की गणना और सामर्थ्य का कथन)

धृतराष्ट्र उवाच :

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? ॥1॥

संजय उवाच :

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥

संजय बोले- उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहचक्रनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखा और द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा ॥2॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां दुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य दुपद-पुत्र दृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए ॥3॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले तथा युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र- ये सभी महारथी हैं। ॥4-6॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्ष में भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ। ॥7॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥

आप- द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा,
 विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा । ॥8॥
 अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
 नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥
 और भी मेरे लिए जीवन की आशा त्याग देने वाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित
 और सब-के-सब युद्ध में चतुर हैं। ॥9॥
 अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
 पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥
 भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगों की यह
 सेना जीतने में सुगम है। ॥10॥
 अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
 भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥
 इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सभी निःसंदेह भीष्म पितामह की ही
 सब ओर से रक्षा करें। ॥11॥

(दोनों सेनाओं की शंख-ध्वनि का कथन)

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
 सिंहनादं विनद्योच्चैः शंख दध्मो प्रतापवान् ॥
 कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से
 सिंह की दहाड़ के समान गरजकर शंख बजाया। ॥12॥
 ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
 सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥
 इसके पश्चात् शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह
 शब्द बड़ा भयंकर हुआ। ॥13॥
 ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
 माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥
 इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन ने भी अलौकिक
 शंख बजाए। ॥14॥
 पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
 पौण्ड्रं दध्मौ महाशंख भीमकर्मा वृकोदरः ॥
 श्रीकृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक, अर्जुन ने देवदत्त नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेन ने
 पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। ॥15॥
 अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥
 कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक
 शंख बजाए। ॥16॥
 काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
 धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥

श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु- इन सभी ने, हे राजन्! सब ओर से अलग-अलग शंख बजाए। ॥17-18॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रों के अर्थात् आपके पक्षवालों के हृदय विदीर्ण कर दिए। ॥19॥

(अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण का प्रसंग)

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाचः

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुन ने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-संबंधियों को देखकर, उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराज से यह वचन कहा- हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए। ॥20-21॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥

और जब तक कि मैं युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओं को भली प्रकार देख लूँ कि इस युद्ध रूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है, तब तक उसे खड़ा रखिए।

॥22॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आए हैं, इन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा। ॥23॥

संजय उवाचः

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुनिति ॥

संजय बोले- हे धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा कहे अनुसार महाराज श्रीकृष्णचंद्र ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा कर इस प्रकार कहा कि हे पार्थ! युद्ध के लिए जुटे हुए इन कौरवों को देख। ॥24-25॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित ताऊ-चाचों को, दादों-परदादों को, गुरुओं को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। ॥26 और 27वें का पूर्वार्ध॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बंधुओं को देखकर वे कुंतीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणा से युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले। ॥27वेंका उत्तरार्ध और 28वें का पूर्वार्ध॥

(मोह से व्याप्त हुए अर्जुन के कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन)

अर्जुन उवाचः

दृष्टेवमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इस स्वजनसमुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प एवं रोमांच हो रहा है। ॥28वें का उत्तरार्ध और 29॥

गाण्डीवं रंसते हस्तात्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

हाथ से गांडीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिए मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूँ। ॥30॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥

हे केशव! मैं लक्षणों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर कल्याण भी नहीं देखता। ॥31॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को ही। हे गोविंद! हमें ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों से और जीवन से भी क्या लाभ है? ॥32॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं। ॥33॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी संबंधी लोग हैं।

॥34॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥
 हे मधुसूदन! मुझे मारने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता,
 फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है? ॥35॥
 निहत्य धार्तराष्ट्रान्न का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
 पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥
 हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर तो हमें
 पाप ही लगेगा। ॥36॥
 तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
 स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥
 अतएव हे माधव! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं क्योंकि अपने ही
 कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? ॥37॥
 यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
 कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥
 कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
 कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥
 यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में पाप को
 नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन! कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने
 के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए? ॥38-39॥
 कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
 धर्मं नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥
 कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं तथा धर्म के नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल में पाप भी
 बहुत फैल जाता है। ॥40॥
 अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
 स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
 हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के
 दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। ॥41॥
 संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
 पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
 वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जल की
 क्रिया वाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पण से वंचित इनके पितर लोग भी अधोगति को प्राप्त होते हैं। ॥42॥
 दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
 उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
 इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं। ॥43॥
 उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
 नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
 हे जनार्दन! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्यों का अनिश्चित काल तकनरक में वास होता है,
 ऐसा हम सुनते आए हैं। ॥44॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥
हा! शोक! हम लोग बुद्धिमान होकर भी महान पाप करने को तैयार हो गए हैं, जो राज्य और सुख के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हो गए हैं। ॥45॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥
यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करने वाले को शस्त्र हाथ में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा। ॥46॥

संजय उवाच:

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥
संजय बोले- रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गए। ॥47॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः। ॥1॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः - सांख्ययोग

(अर्जुन की कायरता के विषय में श्री कृष्णार्जुन-संवाद)

संजय उवाच:

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥
संजय बोले- उस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहा ॥1॥

श्रीभगवानुवाच:

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन। ॥2॥
श्रीभगवान बोले- हे अर्जुन! तुझे इस असमय में यह मोह किस हेतु से प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को करने वाला ही है। ॥2॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥
इसलिए हे अर्जुन! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परन्तप! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा। ॥3॥

अर्जुन उवाच:

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥
अर्जुन बोले- हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं। ॥4॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा। ॥5॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और न करना- इन दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे मुकाबले में खड़े हैं। ॥6॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

इसलिए कायरता रूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिए कहिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिए आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिए। ॥7॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्रमृद्धं-
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक, धन-धान्य सम्पन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपने को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके। ॥8॥

संजय उवाचः

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इतिगोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

संजय बोले- हे राजन्! निद्रा को जीतने वाले अर्जुन अंतर्यामी श्रीकृष्ण महाराज के प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्री गोविंद भगवान् से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गए। ॥9॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अंतर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन बोले। ॥10॥

श्री भगवानुवाचः

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
 गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
 श्री भगवान बोले, हे अर्जुन! तू न शोक करने योग्य मनुष्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के से
 वचनों को कहता है, परन्तु जिनके प्राण चले गए हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गए हैं उनके लिए
 भी पण्डितजन शोक नहीं करते। ॥11॥
 न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
 न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
 न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है
 कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। ॥12॥
 देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
 तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
 जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति
 होती है, उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता। ॥13॥
 मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
 आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
 हे कुंतीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील
 और अनित्य हैं, इसलिए हे भारत! उनको तू सहन कर। ॥14॥
 यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
 समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
 क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के
 संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है। ॥15॥
 नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
 उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
 असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्व तत्वज्ञानी
 पुरुषों द्वारा देखा गया है। ॥16॥
 अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
 विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥
 नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्- दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश
 करने में कोई भी समर्थ नहीं है। ॥17॥
 अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
 अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
 इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गए हैं, इसलिए हे भरतवंशी
 अर्जुन! तू युद्ध कर। ॥18॥
 य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
 उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
 जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि
 यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी द्वारा मारा जाता है। ॥19॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। ॥20॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है? ॥21॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है। ॥22॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकती। ॥23॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है। ॥24॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है। ॥25॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥

किन्तु यदि तू इस आत्मा को सदा जन्मने वाला तथा सदा मरने वाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करने योग्य नहीं है। ॥26॥

जातस्त हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपाय वाले विषय में तू शोक करने योग्य नहीं है। ॥27॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं, केवल बीच में ही प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना है?। ॥28॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्भवति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति

शुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

कोई एक महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता। ॥29॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य (जिसका वध नहीं किया जा सके) है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है। ॥30॥

(क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरूपण)

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

तथा अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। ॥31॥

यदृच्छया चोपपन्नां स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही पाते हैं। ॥32॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा। ॥33॥

अकीर्तिं चापि भूतानि

कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्ति-

र्मरणादतिरिच्यते ॥

तथा सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का भी कथन करेंगे और माननीय पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है। ॥34॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

और जिनकी दृष्टि में तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे। ॥35॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
 निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥
 तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निंदा करते हुए तुझे बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, उससे अधिक दुःख और क्या होगा? ॥36॥
 हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
 तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥
 या तो तू युद्ध में मारा जाकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा संग्राम में जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन! तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा। ॥37॥
 सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
 ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
 जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिए तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा। ॥38॥
 (कर्मयोग का विषय)
 एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
 बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
 हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञान योग के विषय में कही गई और अब तू इसको कर्मयोग के (श्लोक 3 की टिप्पणी में इसका विस्तार देखें।) विषय में सुन- जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बंधन को भली-भाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा। ॥39॥
 नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवातो न विद्यते ।
 स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
 इस कर्मयोग में आरंभ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान भय से रक्षा कर लेता है। ॥40॥
 व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
 बहुशाका ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
 हे अर्जुन! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु अस्थिर विचार वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं। ॥41॥
 यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
 वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
 कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
 क्रियाविश्लेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
 भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
 व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
 हे अर्जुन! जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफल के प्रशंसक वेदवाक्यों में ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्ग से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है- ऐसा कहने वाले हैं, वे अविवेकीजन इस प्रकार की जिस पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहा करते हैं, जो कि जन्मरूप कर्मफल देने वाली एवं भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की बहुत-सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है, उस वाणी द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषों की परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती। ॥42-44॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

हे अर्जुन! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्य रूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों में आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वंद्वों से रहित, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित योग (अप्राप्त की प्राप्ति का नाम 'योग' है।) क्षेम को (प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम 'क्षेम' है।) न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो। ॥45॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को तत्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है। ॥46॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। ॥47॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

हे धनंजय! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्य कर्मों को कर, समत्व (जो कुछ भी कर्म किया जाए, उसके पूर्ण होने और न होने में तथा उसके फल में समभाव रहने का नाम 'समत्व' है।) ही योग कहलाता है। ॥48॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

इस समत्वरूप बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। इसलिए हे धनंजय! तू समबुद्धि में ही रक्षा का उपाय ढूँढ अर्थात् बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल के हेतु बनने वाले अत्यन्त दीन हैं। ॥49॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्व रूप योग में लग जा, यह समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात् कर्मबंध से छूटने का उपाय है। ॥50॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बंधन से मुक्त हो निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं। ॥51॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल को भलीभाँति पार कर जाएगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक संबंधी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा। ॥52॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जाएगी, तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् तेरा परमात्मा से नित्य संयोग हो जाएगा। ॥53॥

(स्थिरबुद्धि पुरुष के लक्षण और उसकी महिमा)

अर्जुन उवाच:

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत किम् ॥

अर्जुन बोले- हे केशव! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? ॥54॥

श्रीभगवानुवाच:

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।

आत्मयेवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

श्री भगवान् बोले- हे अर्जुन! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भलीभाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। ॥55॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है। ॥56॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ॥57॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

और कछुवा सब ओर से अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिए)। ॥58॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है। ॥59॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

हे अर्जुन! आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ यन्त्र करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी बलात् हर लेती हैं। ॥60॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इसलिए साधक को चाहिए कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है। ॥61॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। ॥62॥

क्रोधाभद्वति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है। ॥63॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

परन्तु अपने अधीन किए हुए अन्तःकरण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। ॥64॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है। ॥65॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियों वाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है? ॥66॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। ॥67॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इसलिए हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है। ॥68॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्व को जाननेवाले मुनि के लिए वह रात्रि के समान है। ॥69॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितपन्न पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं। ॥70॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है। ॥71॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

हे अर्जुन! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अंतकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है। ॥72॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥2॥

अथ तृतीयोऽध्यायः - कर्मयोग

(ज्ञानयोग और कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण)

अर्जुन उवाचः

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

अर्जुन बोले- हे जनार्दन! यदि आपको कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? ॥1॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

आप मिले हुए-से वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चित करके कहिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ ॥2॥

श्रीभगवानुवाचः

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

श्रीभगवान् बोले- हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा (साधन की परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठा का नाम 'निष्ठा' है।) मेरे द्वारा पहले कही गई है। उनमें से सांख्य योगियों की निष्ठा तो ज्ञान योग से (माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरतते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानंदघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने का नाम 'ज्ञान योग' है, इसी को 'संन्यास', 'सांख्ययोग' आदि नामों से कहा गया है।) और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से (फल और आसक्ति को त्यागकर भगवदाज्ञानुसार

केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम 'निष्काम कर्मयोग' है, इसी को 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मत्कर्म' आदि नामों से कहा गया है।) होती है।
न कर्मणामनारंभान्निष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
मनुष्य न तो कर्मों का आरंभ किए बिना निष्कर्मता (जिस अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष के कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते, उस अवस्था का नाम 'निष्कर्मता' है।) को यानी योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है। ॥4॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है। ॥5॥
कर्मैन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। ॥6॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। ॥7॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥
तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा। ॥8॥
(यज्ञादि कर्मों की आवश्यकता का निरूपण)
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥
यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बँधता है। इसलिए हे अर्जुन! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर। ॥9॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो। ॥10॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। ॥11॥

इष्टान्भोगान्नि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

यज्ञ द्वारा बढ़ाए हुए देवता तुम लोगों को बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। ॥12॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिए ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं। ॥13॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है। कर्मसमुदाय को तू वेद से उत्पन्न और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षरं परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

॥14-15॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है। ॥16॥

(ज्ञानवान और भगवान के लिए भी लोकसंग्रहार्थ कर्मों की आवश्यकता)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। ॥17॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का संबंध नहीं रहता।

॥18॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भलीभाँति करता रह क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। ॥19॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे, इसलिए तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने के ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है। ॥20॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है (यहाँ क्रिया में एकवचन है, परन्तु 'लोक' शब्द समुदायवाचक होने से भाषा में बहुवचन की क्रिया लिखी गई है।) ॥21॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ। ॥22॥

यदि ह्यहं न वर्तयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मों में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाए क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। ॥23॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ। ॥24॥

(अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण तथा राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे। ॥25॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाए। ॥26॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। ॥27॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

परन्तु हे महाबाहो! गुण विभाग और कर्म विभाग (त्रिगुणात्मक माया के कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय- इन सबके समुदाय का नाम 'गुण विभाग' है और इनकी परस्पर की चेष्टाओं का नाम 'कर्मविभाग' है।) के तत्त्व (उपर्युक्त 'गुण

विभाग' और 'कर्म विभाग' से आत्मा को पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्व जानना है।) को जानने वाला ज्ञान योगी सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।
॥28॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नाविन्न विचालयेत् ॥

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणों में और कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने वाले मन्दबुद्धि अज्ञानियों को पूर्णतया जानने वाला ज्ञानी विचलित न करे। ॥29॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्नयस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशरहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर। ॥30॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽति कर्मभिः ॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं। ॥31॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खों को तू सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुए ही समझ। ॥32॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा। ॥33॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं। ॥34॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अच्छी प्रकार आचरण में लाए हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है। ॥35॥

(काम के निरोध का विषय)

अर्जुन उवाचः

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाए हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है। ॥36॥

श्री भगवानुवाचः

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

श्री भगवान् बोले- रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है। इसको ही तू इस विषय में वैरी जान। ॥37॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढँका जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढँका रहता है, वैसे ही उस काम द्वारा यह ज्ञान ढँका रहता है। ॥38॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कारूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

और हे अर्जुन! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले काम रूप ज्ञानियों के नित्य वैरी द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढँका हुआ है। ॥39॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि- ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है। ॥40॥

तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल। ॥41॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानी श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहते हैं। इन इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है। ॥42॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

इस प्रकार बुद्धि से पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल। ॥43॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

अथ चतुर्थोऽध्यायः - ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

(सगुण भगवान् का प्रभाव और कर्मयोग का विषय)

श्री भगवानुवाचः

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मнुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

श्री भगवान् बोले- मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा। ॥1॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥

हे परन्तप अर्जुन! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्तप्राय हो गया। ॥2॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है। ॥3॥

अर्जुन उवाचः

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

अर्जुन बोले- आपक जन्म तो अर्वाचीन-अभी हाल का है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्प के आदि में हो चुका था। तब मैं इस बात को कैसे समझूँ कि आप ही ने कल्प के आदि में सूर्य से यह योग कहा था? ॥4॥

श्री भगवानुवाचः

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

श्री भगवान् बोले- हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ। ॥5॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। ॥6॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ। ॥7॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ। ॥8॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं- इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से (सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतों के परम गति तथा परम आश्रय हैं, वे केवल धर्म को स्थापन करने और संसार का उद्धार करने के लिए ही अपनी योगमाया से सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं। इसलिए परमेश्वर के समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वर का अनन्य प्रेम से निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित संसार में

बर्तता है, वही उनको तत्व से जानता है।) जान लेता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है। ॥9॥

वीतरागभय क्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गए थे और जो मुझ में अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञान रूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। ॥10॥

ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। ॥11॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है। ॥12॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र -इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान। ॥13॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए मुझे कर्म लिप्त नहीं करते- इस प्रकार जो मुझे तत्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता। ॥14॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुठ कर्मैव तस्मात्वं पूर्वेः पूर्वतरं कृतम् ॥

पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किए हैं, इसलिए तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किए जाने वाले कर्मों को ही कर। ॥15॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षसेऽशुभात् ॥

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस प्रकार इसका निर्णय करने में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए वह कर्मतत्व में तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से अर्थात् कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा। ॥16॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्मण का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है। ॥17॥

कर्मण्य कर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है। ॥18॥

योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं। ॥19॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता। ॥20॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

जिसका अंतःकरण और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है, ऐसा आशरहित पुरुष केवल शरीर-संबंधी कर्म करता हुआ भी पापों को नहीं प्राप्त होता। ॥21॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

जो बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया हो, जो हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से सर्वथा अतीत हो गया है- ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता। ॥22॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है- ऐसा केवल यज्ञसम्पादन के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं। ॥23॥

(फलसहित पृथक-पृथक यज्ञों का कथन)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् झुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है- उस ब्रह्मर्क में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं। ॥24॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति ॥

दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्नि में अभेद दर्शनरूप यज्ञ द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं। (परब्रह्म परमात्मा में ज्ञान द्वारा एकीभाव से स्थित होना ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को हवन करना है।) ॥25॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये सयमाग्निषु जुह्वत ।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। ॥26॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्म संयम योगरूप अग्नि में हवन किया करते हैं। ॥27॥ (सच्चिदानंदघन परमात्मा के सिवाय अन्य किसी का भी न चिन्तन करना ही उन सबका हवन करना है।)

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

कई पुरुष द्रव्य संबंधी यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही तपस्या रूप यज्ञ करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं। ॥28॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार (गीता अध्याय 6 श्लोक 17 में देखना चाहिए।) करने वाले प्राणायाम परायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं। ॥29-30॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है? ॥31॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्षयसे ॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गए हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा सम्पन्न होने वाले जान, इस प्रकार तत्व से जानकर उनके अनुष्ठान द्वारा तू कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाएगा। ॥32॥

(ज्ञान की महिमा)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परन्तप ।

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ हैं तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। ॥33॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्व को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे। ॥34॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञान द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेषभाव से पहले अपने में (गीता अध्याय 6 श्लोक 29 में देखना चाहिए) और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा। (गीता अध्याय 6 श्लोक 30 में देखना चाहिए) ॥35॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्र से भलीभाँति तर जाएगा। ॥36॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देती है। ॥37॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मा में पा लेता है। ॥38॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परं शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के- तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। ॥39॥

अज्ञश्चश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है। ॥40॥

योगसन्नयस्तकर्माणं ज्ञानसञ्जिनसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥

हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किए हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। ॥41॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्तैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय का विवेकज्ञान रूप तलवार द्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोग में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़ा हो जा। ॥42॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥4॥

अथ पंचमोऽध्यायः - कर्मसंन्यासयोग

(सांख्ययोग और कर्मयोग का निर्णय)

अर्जुन उवाचः

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! आप कर्मों के संन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिए इन दोनों में से जो एक मेरे लिए भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिए। ॥1॥

श्री भगवानुवाचः

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

श्री भगवान् बोले- कर्म संन्यास और कर्मयोग- ये दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में भी कर्म संन्यास से कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है। ॥2॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग-द्वेषादि द्वंद्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार बंधन से मुक्त हो जाता है। ॥3॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोग को मूर्ख लोग पृथक्-पृथक् फल देने वाले कहते हैं न कि

पण्डितजन, क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। ॥4॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्यौगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

ज्ञान योगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।

इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही यथार्थ देखता है। ॥5॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

परन्तु हे अर्जुन! कर्मयोग के बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। ॥6॥

(सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महिमा)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। ॥7॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।

पश्यंशृण्वन्स्पृशंजिघ्रन् श्रन्गच्छन्स्वपंश्वसन् ॥

प्रलपन्विसृजन्वृहन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

तत्व को जानने वाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं- इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा मानें कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। ॥8-9॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता। ॥10॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। ॥11॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बँधता है। ॥12॥

(ज्ञानयोग का विषय)

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

अन्तःकरण जिसके वश में है, ऐसा सांख्य योग का आचरण करने वाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारों वाले शरीर रूप घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर आनंदपूर्वक सच्चिदानंदघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है। ॥13॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।

परमेश्वर मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्मफल के संयोग की रचना करते हैं, किन्तु स्वभाव ही बर्त रहा है। ॥14॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभकर्म को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान द्वारा ज्ञान ढँका हुआ है, उसी से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं। ॥15॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्व ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है। ॥16॥

तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही जिनकी निरंतर एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं। ॥17॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्ता ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी (इसका विस्तार गीता अध्याय 6 श्लोक 32 की टिप्पणी में देखना चाहिए।) ही होते हैं। ॥18॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित हैं। ॥19॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

जो पुरुष प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है। ॥20॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित जो ध्यानजनित सात्विक आनंद है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। ॥21॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। ॥22॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

जो साधक इस मनुष्य शरीर में, शरीर का नाश होने से पहले-पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है। ॥23॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुखवाला है, आत्मा में ही रमण करने वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त सांख्य योगी शांत ब्रह्म को प्राप्त होता है। ॥24॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सब संशय ज्ञान द्वारा निवृत्त हो गए हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभाव से परमात्मा में स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शांत ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ॥25॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

काम-क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किए हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शांत परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। ॥26॥

(भक्ति सहित ध्यानयोग का वर्णन)

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्माक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

बाहर के विषय-भोगों को न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपानवायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि (परमेश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला) इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है। ॥27-28॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। ॥29॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥5॥

अथ षष्ठोऽध्यायः - आत्मसंयमयोग

(कर्मयोग का विषय और योगारूढ़ पुरुष के लक्षण)

श्री भगवानुवाचः

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निरन चाक्रियः ॥

श्री भगवान बोले- जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है। ॥1॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥

हे अर्जुन! जिसको संन्यास (गीता अध्याय 3 श्लोक 3 की टिप्पणी में इसका खुलासा अर्थ लिखा है।) ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग (गीता अध्याय 3 श्लोक 3 की टिप्पणी में इसका खुलासा अर्थ लिखा है।)

जान क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता। ॥2॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्वसंकल्पों का अभाव है, वही कल्याण में हेतु कहा जाता है। ॥3॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है। ॥4॥

(आत्म-उद्धार के लिए प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुष के लक्षण)

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करें और अपने को अधोगति में न डालें क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। ॥5॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिए वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में बर्तता है। ॥6॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भलीभाँति शांत हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। ॥7॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। ॥8॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

सुहृद् (स्वार्थ रहित सबका हित करने वाला), मित्र, वैरी, उदासीन (पक्षपातरहित), मध्यस्थ (दोनों ओर की भलाई चाहने वाला), द्वेष्य और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव रखने वाला अत्यन्त श्रेष्ठ है। ॥9॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकांत स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरंतर परमात्मा में लगाए। ॥10॥

(विस्तार से ध्यान योग का विषय)

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापन करके- ॥11॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। ॥12॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

काया, सिर और गले को समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ- ॥13॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शांत अन्तःकरण वाला सावधान योगी मन को रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होए। ॥14॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

वश में किए हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरंतर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ मुझमें रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है। ॥15॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिलकुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाव वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। ॥16॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। ॥17॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है। ॥18॥

यथा दीपो निवातस्थो नैंगते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है। ॥19॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। ॥20॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है, और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से विचलित होता ही नहीं। ॥21॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उसे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मा प्राप्ति रूप जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता। ॥22॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिए। वह योग न उकताए हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है। ॥23॥

संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेष रूप से त्यागकर और मन द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभाँति रोककर- ॥24॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरति को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। ॥25॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है, उस-उस विषय से रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे। ॥26॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शांत है, जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शांत हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को उत्तम आनंद प्राप्त होता है। ॥27॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरंतर आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप अनन्त आनंद का अनुभव करता है। ॥28॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

सर्वव्यापी अनंत चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।

॥29॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत (गीता अध्याय 9 श्लोक 6 में देखना चाहिए।) देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता। ॥30॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है। ॥31॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति (जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और गुदादि के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकों का-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होने से सुख और दुःख को समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतों में देखना 'अपनी भाँति' सम देखना है।) सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

॥32॥

(मन के निग्रह का विषय)

अर्जुन उवाचः

योऽयंयोगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

अर्जुन बोले- हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समभाव से कहा है, मन के चंचल होने से मैं इसकी नित्य स्थिति को नहीं देखता हूँ। ॥33॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिए उसको वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। ॥34॥

श्री भगवानुवाच:

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

श्री भगवान् बोले- हे महाबाहो! निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु हे कुंतीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास (गीता अध्याय 12 श्लोक 9 की टिप्पणी में इसका विस्तार देखना चाहिए!) और वैराग्य से वश में होता है। ॥35॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है और वश में किए हुए मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन से उसका प्राप्त होना सहज है- यह मेरा मत है। ॥36॥

(योगभ्रष्ट पुरुष की गति का विषय और ध्यानयोगी की महिमा)

अर्जुन उवाच:

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥

अर्जुन बोले- हे श्रीकृष्ण! जो योग में श्रद्धा रखने वाला है, किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकाल में योग से विचलित हो गया है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत्साक्षात्कार को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है। ॥37॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता? ॥38॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला मिलना संभव नहीं है। ॥39॥

श्रीभगवानुवाच:

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

श्री भगवान् बोले- हे पार्थ! उस पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धार के लिए अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। ॥40॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है। ॥41॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है, सो संसार में निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है। ॥42॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

वहाँ उस पहले शरीर में संग्रह किए हुए बुद्धि-संयोग को अर्थात् समबुद्धिरूप योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से वह फिर परमात्मा की प्राप्तिरूप सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है। ॥43॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥

वह (यहाँ 'वह' शब्द से श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट पुरुष समझना चाहिए।) श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहले के अभ्यास से ही निःसंदेह भगवान् की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धि रूप योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है। ॥44॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यात परां गतिम् ॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पिछले अनेक जन्मों के संस्कारबल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित हो फिर तत्काल ही परमगति को प्राप्त हो जाता है। ॥45॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी

ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी

तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन! तू योगी हो। ॥46॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो मतः ॥

सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है। ॥47॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥6॥

अथ सप्तमोऽध्यायः - ज्ञानविज्ञानयोग

(विज्ञान सहित ज्ञान का विषय)

श्री भगवानुवाचः

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

श्री भगवान बोले- हे पार्थ! अनन्य प्रेम से मुझमें आसक्त चित तथा अनन्य भाव से मेरे परायण होकर योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार से सम्पूर्ण विभूति, बल, एश्वर्यादि गुणों से युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन। ॥1॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

मैं तेरे लिए इस विज्ञान सहित तत्व ज्ञान को सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता। ॥2॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्व से अर्थात् यथार्थ रूप से जानता है। ॥3॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी- इस प्रकार ये आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान।

॥4-5॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ। ॥6॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में सूत्र के मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। ॥7॥

(सम्पूर्ण पदार्थों में कारण रूप से भगवान की व्यापकता का कथन)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

हे अर्जुन! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। ॥8॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

मैं पृथ्वी में पवित्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से इस प्रसंग में इनके कारण रूप तन्मात्राओं का ग्रहण है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।) गंध और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। ॥9॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। ॥10॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानों का आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामार्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम हूँ। ॥11॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्चये ।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

और भी जो सत्त्व गुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजो गुण से होने वाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होने वाले हैं' ऐसा जान, परन्तु वास्तव में (गीता अ. 9 श्लोक 4-5 में देखना चाहिए) उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं। ॥12॥

आसुरी स्वभाव वालों की निंदा और भगवद्भक्तों की प्रशंसा)

त्रिभिर्गुणमयैर्भवैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

गुणों के कार्य रूप सात्त्विक, राजस और तामस- इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार-प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिए इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता। ॥13॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरंतर भजते हैं, वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं। ॥14॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

माया द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर-स्वभाव को धारण किए हुए, मनुष्यों में नीच, दूषित कर्म करने वाले मूढ़ लोग मुझको नहीं भजते। ॥15॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी (सांसारिक पदार्थों के लिए भजने वाला), आर्त (संकटनिवारण के लिए भजने वाला) जिज्ञासु (मेरे को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भजने वाला) और ज्ञानी- ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझको भजते हैं। ॥16॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है। ॥17॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है- ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है। ॥18॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

बहुत जन्मों के अंत के जन्म में तत्व ज्ञान को प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही हैं- इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ॥19॥

(अन्य देवताओं की उपासना का विषय)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

उन-उन भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं अर्थात् पूजते हैं। ॥20॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ। ॥21॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता का पूजन करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किए हुए उन इच्छित भोगों को निःसंदेह प्राप्त करता है। ॥22॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल नाशवान है तथा वे देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्त में वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। ॥23॥

(भगवान के प्रभाव और स्वरूप को न जानने वालों की निंदा और जानने वालों की महिमा)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भाव को न जानते हुए मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जन्मकर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं। ॥24॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ

जन्मरहित अविनाशी परमेश्वर को नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरने वाला समझता है। ॥25॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

हे अर्जुन! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे होने वाले सब भूतों को मैं जानता हूँ, परन्तु

मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता। ॥26॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वंद्वरूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं। ॥27॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

परन्तु निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकार से भजते हैं। ॥28॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं। ॥29॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव सहित तथा अधियज्ञ सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अन्तकाल में भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं। ॥30॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥7॥

अथाष्टमोऽध्यायः - अक्षरब्रह्मयोग

(ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के सात प्रश्न और उनका उत्तर)

अर्जुन उवाचः

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥

अर्जुन ने कहा- हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नाम से क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं। ॥1॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीर में कैसे है? तथा युक्त चित्त वाले पुरुषों द्वारा अंत समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं। ॥2॥

श्रीभगवानुवाचः

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

श्री भगवान ने कहा- परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नाम से कहा जाता है तथा भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नाम से कहा गया है। ॥3॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

उत्पत्ति-विनाश धर्म वाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष (जिसको शास्त्रों में सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, ब्रह्मा इत्यादि नामों से कहा गया है) अधिदैव है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीर में मैं वासुदेव ही अन्तर्यामी रूप से अधियज्ञ हूँ। ॥4॥

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

जो पुरुष अंतकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है- इसमें कुछ भी संशय नहीं है। ॥5॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावाभावितः ॥

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अंतकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है। ॥6॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मा मेवैष्यस्य संशयम् ॥

इसलिए हे अर्जुन! तू सब समय में निरंतर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा। ॥7॥

(भक्तियोग का विषय)

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरंतर चिंतन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। ॥8॥

कविं पुराणमनुशासितार-

मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियंता (अंतर्यामी रूप से सब प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार शासन करने वाला) सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करने वाले अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाश रूप और अविद्या से अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वर का स्मरण करता है। ॥9॥

प्रयाण काले मनसाचलेन

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-

स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।

वह भक्ति युक्त पुरुष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य रूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है। ॥10॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेद के जानने वाले विद्वान जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पद को अविनाश कहते हैं, आसक्ति रहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन, जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परम पद को चाहने वाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद को मैं तेरे लिए संक्षेप में कहूँगा। ॥11॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।

मूर्ध्न्याधायान्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

सब इंद्रियों के द्वारों को रोककर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मन द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करके, परमात्म संबंधी योगधारणा में स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिंतन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है। ॥12-13॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनीः ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरंतर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरंतर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। ॥14॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

परम सिद्धि को प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखों के घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते। ॥15॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यंत सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादि के लोक काल द्वारा सीमित होने से अनित्य हैं। ॥16॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

ब्रह्मा का जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि वाला और रात्रि को भी एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि वाला जो पुरुष तत्त्व से जानते हैं, वे योगीजन काल के तत्त्व को जानने वाले हैं।

॥17॥

अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

संपूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लीन हो जाते हैं।

॥18॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

हे पार्थ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृति वश में हुआ रात्रि के प्रवेश काल में लीन होता है और दिन के प्रवेश काल में फिर उत्पन्न होता है। ॥19॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। ॥20॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नाम से कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परगमति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है। ॥21॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

हे पार्थ! जिस परमात्मा के अंतर्गत सर्वभूत है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह समस्त जगत परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है। ॥22॥

(शुक्ल और कृष्ण मार्ग का विषय)

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

हे अर्जुन! जिस काल में शरीर त्याग कर गए हुए योगीजन तो वापस न लौटने वाली गति को और जिस काल में गए हुए वापस लौटने वाली गति को ही प्राप्त होते हैं, उस काल को अर्थात् दोनों मार्गों को कहूँगा। ॥23॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता हैं, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गए हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपयुक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले जाए जाकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ॥24॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्ण पक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गया हुआ सकाम कर्म करने वाला योगी उपयुक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले गया हुआ चंद्रमा की ज्योत को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभ कर्मों का फल भोगकर वापस आता है। ॥25॥

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिं मन्ययावर्तते पुनः ॥

क्योंकि जगत के दो प्रकार के- शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गए हैं। इनमें एक द्वारा गया हुआ जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। ॥26॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥

हे पार्थ! इस प्रकार इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन! तू सब काल में समबुद्धि रूप से योग से युक्त हो अर्थात् निरंतर मेरी प्राप्ति के लिए साधन करने वाला हो। ॥27॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येत तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

योगी पुरुष इस रहस्य को तत्त्व से जानकर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दानादि के करने में जो पुण्यफल कहा है, उन सबको निःसंदेह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है। ॥28॥

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुनसंवादे अक्षर ब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥8॥

अथ नवमोऽध्यायः - राजविद्याराजगुह्ययोग

(प्रभावसहित ज्ञान का विषय)

श्री भगवानुवाचः

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥

श्री भगवान् बोले- तुझ दोषदृष्टिरहित भक्त के लिए इस परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान को पुनः भली भाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसार से मुक्त हो जाएगा। ॥1॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

यह विज्ञान सहित ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सब गोपनीयों का राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है। ॥2॥

अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

हे परंतप! इस उपयुक्त धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। ॥3॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेषवस्थितः ॥

मुझ निराकार परमात्मा से यह सब जगत् जल से बर्फ के सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अंतर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं, किंतु वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। ॥4॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख कि भूतों का धारण-पोषण करने वाला और भूतों को उत्पन्न करने वाला भी मेरा आत्मा वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है। ॥5॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

जैसे आकाश से उत्पन्न सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा आकाश में ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पन्न होने से संपूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान। ॥6॥

(जगत की उत्पत्ति का विषय)

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादव विसृजाम्यहम् ॥

हे अर्जुन! कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मैं फिर रचता हूँ। ॥7॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

अपनी प्रकृति को अंगीकार करके स्वभाव के बल से परतंत्र हुए इस संपूर्ण भूतसमुदाय को बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ। ॥8॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

हे अर्जुन! उन कर्मों में आसक्तिरहित और उदासीन के सदृश (जिसके संपूर्ण कार्य कर्तृत्व भाव के बिना अपने आप सत्ता मात्र ही होते हैं उसका नाम उदासीन के सदृश है) स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म नहीं बाँधते। ॥9॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरं ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता के सकाश से प्रकृति चराचर सहित सर्वजगत को रचती है और इस हेतु से ही यह संसारचक्र घूम रहा है। ॥10॥

(भगवान का तिरस्कार करने वाले आसुरी प्रकृति वालों की निंदा और देवी प्रकृति वालों के भगवद् भजन का प्रकार)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

मेरे परमभाव को (गीता अध्याय 7 श्लोक 24 में देखना चाहिए) न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ संपूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योग माया से संसार के उद्धार के लिए मनुष्य रूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं। ॥11॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञान वाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को (जिसको आसुरी संपदा के नाम से विस्तारपूर्वक भगवान ने गीता अध्याय 16 श्लोक 4 तथा श्लोक 7 से 21 तक में कहा है) ही धारण किए रहते हैं। ॥12॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यम् ॥

परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृति के (इसका विस्तारपूर्वक वर्णन गीता अध्याय 16 श्लोक 1 से 3 तक में देखना चाहिए) आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतों का सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरंतर भजते हैं। ॥13॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

वे दृढ़ निश्चय वाले भक्तजन निरंतर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यान में युक्त होकर अनन्य प्रेम से मेरी उपासना करते हैं। ॥14॥

(सर्वात्म रूप से प्रभाव सहित भगवान के स्वरूप का वर्णन)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

क्रतु में हूँ, यज्ञ में हूँ, स्वधा में हूँ, औषधि में हूँ, मंत्र में हूँ, घृत में हूँ, अग्नि में हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ। ॥16॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोँकार ऋक्साम यजुरेव च ॥

इस संपूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण करने वाला एवं कर्मों के फलको देने वाला, पिता, माता, पितामह, जानने योग्य, (गीता अध्याय 13 श्लोक 12 से 17 तक में देखना चाहिए) पवित्र ओँकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। ॥17॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी, शुभाशुभ का देखने वाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलय का हेतु, स्थिति का आधार, निधान (प्रलयकाल में संपूर्ण भूत सूक्ष्म रूप से जिसमें लय होते हैं उसका नाम निधान है) और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। ॥18॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगूहणाम्युत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ। ॥19॥

(सकाम और निष्काम उपासना का फल)

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्टा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

तीनों वेदों में विधान किए हुए सकामकर्मों को करने वाले, सोम रस को पीने वाले, पापरहित पुरुष (यहाँ स्वर्ग प्राप्ति के प्रतिबंधक देव ऋणरूप पाप से पवित्र होना समझना चाहिए) मुझको यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं। ॥20॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालंक्षीणे पुण्य मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकामकर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आते हैं। ॥21॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरंतर चिंतन करते हुए निष्कामभाव से भजते हैं, उन नित्यनिरंतर मेरा चिंतन करने वाले पुरुषों का योगक्षेम (भगवत्स्वरूप की प्राप्ति का नाम योग है और भगवत्प्राप्ति के निमित्त किए हुए साधन की रक्षा का नाम क्षेम है) मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ। ॥22॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धा से युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् ज्ञानपूर्वक है। ॥23॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

क्योंकि संपूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परंतु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते, इसी से गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। ॥24॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करने वाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसलिए मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता (गीता अध्याय 8 श्लोक 16 में देखना चाहिए)। ॥25॥

(निष्काम भगवद् भक्ति की महिमा)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। ॥26॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। ॥27॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षय से कर्मबंधनैः ।

संन्यासयोगमुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान के अर्पण होते हैं- ऐसे संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा। ॥28॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट (जैसे सूक्ष्म रूप से सब जगह व्यापक हुआ भी अग्नि साधनों द्वारा प्रकट करने से ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्ति से भजने वाले के ही अंतःकरण में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है) हूँ। ॥29॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भली भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है। ॥30॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौंतेय प्रतिजानिः न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। ॥31॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं। ॥32॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण था राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरंतर मेरा ही भजन कर। ॥33॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्तैवमात्मानं मत्परायणः ॥

मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्तबन, मेरा पूजन करने वाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा। ॥34॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥9॥

अथ दशमोऽध्याय - विभूतियोग

(भगवान की विभूति और योगशक्ति का कथन तथा उनके जानने का फल)

श्रीभगवानुवाचः

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥

श्री भगवान् बोले- हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन को सुन, जिसे मैं तुझे अतिशय प्रेम रखने वाले के लिए हित की इच्छा से कहूँगा। ॥1॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥

मेरी उत्पत्ति को अर्थात् लीला से प्रकट होने को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ। ॥2॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तव में जन्मरहित, अनादि (अनादि उसको कहते हैं जो आदि रहित हो एवं सबका कारण हो) और लोकों का महान् ईश्वर तत्त्व से जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान् पुरुष संपूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। ॥3॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा, सत्य, इंद्रियों का वश में करना, मन का निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, संतोष तप (स्वधर्म के आचरण से इंद्रियादि को तपा कर शुद्ध करने का नाम तप है), दान, कीर्ति और अपकीर्ति- ऐसे ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं। ॥4-5॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु- ये मुझमें भाव वाले सब-के-सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में यह संपूर्ण प्रजा है। ॥6॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूति को और योगशक्तिको तत्त्व से जानता है (जो कुछ दृश्यमात्र संसार है वह सब भगवान की माया है और एक वासुदेव भगवान ही सर्वत्र परिपूर्ण है, यह जानना ही तत्त्व से जानना है), वह निश्चल भक्तियोग से युक्त हो जाता है- इसमें कुछ भी संशय नहीं है। ॥7॥

(फल और प्रभाव सहित भक्तियोग का कथन)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

मैं वासुदेव ही संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वर को ही निरंतर भजते हैं। ॥8॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

निरंतर मुझमें मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले (मुझ वासुदेव के लिए ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है उनका नाम मद्गतप्राणाः है) भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जनाते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही निरंतर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही निरंतर रमण करते हैं। ॥9॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

उन निरंतर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। ॥10॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए उनके अंतःकरण में स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अंधकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ। ॥11॥

(अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति तथा विभूति और योगशक्ति को कहने के लिए प्रार्थना)

अर्जुन उवाच:

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥

अर्जुन बोले- आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवों का भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और आप भी मेरे प्रति कहते हैं। ॥12-13॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥

हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय (गीता अध्याय 4 श्लोक 6 में इसका विस्तार देखना चाहिए) स्वरूप को न तो दानव जानते हैं और न देवता ही। ॥14॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥

हे भूतों को उत्पन्न करने वाले! हे भूतों के ईश्वर! हे देवों के देव! हे जगत् के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं। ॥15॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

इसलिए आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियों को संपूर्णता से कहने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। ॥16॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरंतर चिंतन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिंतन करने योग्य हैं। ॥17॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्ति को और विभूति को फिर भी विस्तारपूर्वक कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुनने की उत्कंठा बनी ही रहती है। ॥18॥

(भगवान द्वारा अपनी विभूतियों और योगशक्ति का कथन)

श्री भगवानुवाच:

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

श्री भगवान बोले- हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिए प्रधानता से कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तार का अंत नहीं है। ॥19॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
 अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
 हे अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ तथा संपूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूँ। ॥20॥
 आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
 मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥
 मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायुदेवताओं का तेज और नक्षत्रों का अधिपति चंद्रमा हूँ। ॥21॥
 वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
 इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥
 मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इंद्र हूँ, इंद्रियों में मन हूँ और भूत प्राणियों की चेतना अर्थात् जीवन-शक्ति हूँ। ॥22॥
 रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
 वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥
 मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ। ॥23॥
 पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
 सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥
 पुरोहितों में मुखिया बृहस्पति मुझको जान। हे पार्थ! मैं सेनापतियों में स्कंद और जलाशयों में समुद्र हूँ। ॥24॥
 महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
 यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥
 मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ। सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पहाड़ हूँ। ॥25॥
 अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
 गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥
 मैं सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद मुनि, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। ॥26॥
 उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्धवम् ।
 एरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥
 घोड़ों में अमृत के साथ उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत नामक हाथी और मनुष्यों में राजा मुझको जान। ॥27॥
 आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
 प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥
 मैं शस्त्रों में वज्र और गौओं में कामधेन हूँ। शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव हूँ और सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ। ॥28॥
 अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
 पितृणामर्थमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥

में नागों में (नाग और सर्प ये दो प्रकार की सर्पों की ही जाति है) शेषनाग और जलचरों का अधिपति वरुण देवता हूँ और पितरों में अर्यमा नामक पितर तथा शासन करने वालों में यमराज मैं हूँ। ॥29॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गणना करने वालों का समय (क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदि में जो समय है वह मैं हूँ) हूँ तथा पशुओं में मृगराज सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ। ॥30॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।

झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥

मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ तथा मछलियों में मगर हूँ और नदियों में श्री भागीरथी गङ्गाजी हूँ। ॥31॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि और अंत तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्म विद्या और परस्पर विवाद करने वालों का तत्त्व-निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद हूँ। ॥32॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥

मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वंद्व नामक समास हूँ। अक्षयकाल अर्थात् काल का भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला, विराट् स्वरूप, सबका धारण-पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ। ॥33॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

मैं सबका नाश करने वाला मृत्यु और उत्पन्न होने वालों का उत्पत्ति हेतु हूँ तथा स्त्रियों में कीर्ति (कीर्ति आदि ये सात देवताओं की स्त्रियाँ और स्त्रीवाचक नाम वाले गुण भी प्रसिद्ध हैं, इसलिए दोनों प्रकार से ही भगवान की विभूतियाँ हैं), श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ। ॥34॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥

तथा गायन करने योग्य श्रुतियों में मैं बृहत्साम और छंदों में गायत्री छंद हूँ तथा महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसंत मैं हूँ। ॥35॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥

मैं छल करने वालों में जुआ और प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव हूँ। मैं जीतने वालों का विजय हूँ, निश्चय करने वालों का निश्चय और सात्त्विक पुरुषों का सात्त्विक भाव हूँ। ॥36॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

वृष्णिवंशियों में (यादवों के अंतर्गत एक वृष्णि वंश भी था) वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवों में धनञ्जय अर्थात् तू, मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ। ॥37॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

मैं दमन करने वालों का दंड अर्थात् दमन करने की शक्ति हूँ, जीतने की इच्छा वालों की नीति हूँ, गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ। ॥38॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

और हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो। ॥39॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है, मैंने अपनी विभूतियों का यह विस्तार तो तेरे लिए एकदेश से अर्थात् संक्षेप से कहा है। ॥40॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कांतियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उस को तू मेरे तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति जान। ॥41॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रायोजन है। मैं इस संपूर्ण जगत् को अपनी योगशक्ति के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ। ॥42॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥10॥

अथैकादशोऽध्यायः – विश्वरूपदर्शनयोग

(विश्वरूप के दर्शन हेतु अर्जुन की प्रार्थना)

अर्जुन उवाचः

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

अर्जुन बोले- मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने जो परम गोपनीय अध्यात्म विषयक वचन अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है। ॥1॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वतः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने आपसे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है। ॥2॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

हे परमेश्वर! आप अपने को जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से युक्त ऐश्वर्य-रूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। ॥3॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

हे प्रभो! (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामी रूप से शासन करने वाला होने से भगवान का नाम 'प्रभु' है) यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है- ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! उस अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइए। ॥4॥

(भगवान द्वारा अपने विश्व रूप का वर्णन)

श्री भगवानुवाच:

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

श्री भगवान बोले हे पार्थ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपों को देख। ॥5॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! तू मुझमें आदित्यों को अर्थात् अदिति के द्वादश पुत्रों को, आठ वस्तुओं को, एकादश रुद्रों को, दोनों अश्विनीकुमारों को और उनचास मरुद्गणों को देख तथा और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख। ॥6॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडा केश यच्चान्यद्द्रष्टमिच्छसि ॥

(गुडाकेश- निद्रा को जीतने वाला होने से अर्जुन का नाम 'गुडाकेश' हुआ था)

हे अर्जुन! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित चराचर सहित सम्पूर्ण जगत को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता हो सो देख। ॥7॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसंदेह समर्थ नहीं है, इसी से मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, इससे तू मेरी ईश्वरीय योग शक्ति को देख। ॥8॥

(संजय द्वारा धृतराष्ट्र के प्रति विश्वरूप का वर्णन)

संजय उवाच:

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

संजय बोले- हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापों के नाश करने वाले भगवान ने इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुन को परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्यस्वरूप दिखलाया। ॥9॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनों वाले, बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को धारण किए हुए और दिव्य गंध का सारे शरीर में लेप किए हुए, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किए हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा। ॥10-

11॥

दिवि सूर्यसहस्रास्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्व रूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही हो। ॥12॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त अर्थात् पृथक-पृथक सम्पूर्ण जगत को देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान के उस शरीर में एक जगह स्थित देखा। ॥13॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥

उसके अनंतर वे आश्चर्य से चकित और पुलकित शरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्मा को श्रद्धा-भक्ति सहित सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले- ॥14॥

(अर्जुन द्वारा भगवान के विश्वरूप का देखा जाना और उनकी स्तुति करना)

अर्जुन उवाचः

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंघान् ।

ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

अर्जुन बोले- हे देव! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदायों को, कमल के आसन पर विराजित ब्रह्मा को, महादेव को और सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ। ॥15॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रंपश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिपश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही।

॥16॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त, कठिनता से देखे जाने योग्य और सब ओर से अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ।

॥17॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यंत्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं। आप ही इस जगत के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है। ॥18॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रंस्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

आपको आदि, अंत और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्य रूप नेत्रों वाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेज से इस जगत को संतृप्त करते हुए देखता हूँ। ॥19॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदंलोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अतिव्यथा को प्राप्त हो रहे हैं।

॥20॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

वे ही देवताओं के समूह आप में प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं। ॥21॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याविश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघावीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण और पितरों का समुदाय तथा गंधर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं- वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं। ॥22॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रंमहाबाहो बहुबाहुरूपादम् ।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालंदृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥

हे महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले, बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाले, बहुत उदरों वाले और बहुत-सी दाढ़ों के कारण अत्यन्त विकराल महान रूप को देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। ॥23॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णव्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥

क्योंकि हे विष्णो! आकाश को स्पर्श करने वाले, दैदीप्यमान, अनेक वर्षों से युक्त तथा फैलाए हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ। ॥24॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानिदृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।

दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

दाढ़ों के कारण विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित आपके मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों।

॥25॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥

वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित आप में प्रवेश कर रहे हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के सहित सबके सब आपके दाढ़ों के कारण विकराल भयानक मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिख रहे हैं। ॥26-27॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीराविशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

जैसे नदियों के बहुत-से जल के प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्र के ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोक के वीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। ॥28॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगाविशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

जैसे पतंग मोहवश नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं। ॥29॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्थं जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥

आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो!

आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत को तेज द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है। ॥30॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

मुझे बतलाइए कि आप उग्ररूप वाले कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइए।

आदि पुरुष आपको मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता। ॥31॥

(भगवान द्वारा अपने प्रभाव का वर्णन और अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करना)

श्री भगवानुवाचः

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋहोऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

श्री भगवान बोले- मैं लोकों का नाश करने वाला बड़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सबका नाश हो जाएगा। ॥32॥

तस्मात्त्वमुक्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥

अतएव तू उठ! यश प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोग। ये सब शूरवीर पहले ही से मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन! (बाएँ हाथ से भी बाण चलाने का अभ्यास होने से अर्जुन का नाम 'सव्यसाची' हुआ था) तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा। ॥33॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार। भय मत कर। निःसंदेह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा। इसलिए युद्ध कर। ॥34॥

(भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति और चतुर्भुज रूप का दर्शन कराने के लिए प्रार्थना)

संजय उवाचः

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरिटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णंसगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

संजय बोले- केशव भगवान के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपते हुए नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके भगवान श्रीकृष्ण के प्रति गदगद वाणी से बोले-

॥35॥

अर्जुन उवाचः

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
 रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥
 अर्जुन बोले- हे अन्तर्यामिन! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभाव के कीर्तन से जगत अति हर्षित हो रहा है और अनुराग को भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षस लोग दिशाओं में भाग रहे हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार कर रहे हैं। ॥36॥
 कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
 अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥
 हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिए वे कैसे नमस्कार न करें क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं। ॥37॥
 त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप । ।
 आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इन जगत के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हैं। ॥38॥
 वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
 नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥
 आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपके लिए हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!! आपके लिए फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार!! ॥39॥
 नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
 अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वंसर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥
 हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिए आगे से और पीछे से भी नमस्कार! हे सर्वात्मन्! आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार हो, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसार को व्याप्त किए हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं। ॥40॥
 सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
 अजानता महिमानं तवेदंमया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥
 यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
 एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षंतक्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥
 आपके इस प्रभाव को न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेम से अथवा प्रमाद से भी मैंने 'हे कृष्ण!', 'हे यादव !' 'हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है और हे अच्युत! आप जो मेरे द्वारा विनोद के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजनादि में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने भी अपमानित किए गए हैं- वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाव वाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ। ॥41-42॥
 पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
 न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
 आप इस चराचर जगत के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है। ॥43॥
 तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायंप्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
 पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

अतएव हे प्रभो! मैं शरीर को भलीभाँति चरणों में निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रियतमा पत्नी के अपराध सहन करते हैं- वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने योग्य हैं। ॥44॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव मे दर्शय देवरूपंप्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिए आप उस अपने चतुर्भुज विष्णु रूप को ही मुझे दिखाइए। हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइए। ॥45॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेनसहस्राबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किए हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूँ। इसलिए हे विश्वस्वरूप! हे सहस्राबाहो! आप उसी चतुर्भुज रूप से प्रकट होइए। ॥46॥

(भगवान द्वारा अपने विश्वरूप के दर्शन की महिमा का कथन

तथा चतुर्भुज और सौम्य रूप का दिखाया जाना)



श्री भगवानुवाच:

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदंरूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यंयन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

श्री भगवान बोले- हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से यह मेरे परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसी ने पहले नहीं देखा था। ॥47॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

हे अर्जुन! मनुष्य लोक में इस प्रकार विश्व रूप वाला मैं न वेद और यज्ञों के अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही तेरे अतिरिक्त दूसरे द्वारा देखा जा सकता हूँ। ॥48॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावोदृष्ट्वा रूपं घोरमीदृंगममेदम् ।

व्यतेपभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वंतदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥

मेरे इस प्रकार के इस विकराल रूप को देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिए और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिए। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूप को फिर देख। ॥49॥

संजय उवाच:

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनंभूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

संजय बोले- वासुदेव भगवान ने अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूप को दिखाया और फिर महात्मा श्रीकृष्ण ने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुन को धीरज दिया। ॥50॥

(बिना अनन्य भक्ति के चतुर्भुज रूप के दर्शन की दुर्लभता का और फलसहित अनन्य भक्ति का कथन)

अर्जुन उवाच:

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥

अर्जुन बोले- हे जनार्दन! आपके इस अतिशांत मनुष्य रूप को देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ। ॥51॥

श्रीभगवानुवाच:

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥

श्री भगवान बोले- मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, वह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं। ॥52॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा ॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है- इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ। ॥53॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्ति द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ। ॥54॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिए सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वैरभाव से रहित है (सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाने से उस पुरुष का अति अपराध करने वाले में भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरों में तो कहना ही क्या है), वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है। ॥55॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥11॥

अथ द्वादशोऽध्यायः – भक्तियोग

(साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय और भगवत्प्राप्ति के उपाय का विषय)

अर्जुन उवाच:

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

अर्जुन बोले- जो अनन्य प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर आपके भजन-ध्यान में लगे रहकर आप सगुण रूप परमेश्वर को और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म को ही अतिश्रेष्ठ भाव से भजते हैं- उन दोनों प्रकार के उपासकों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं? ॥1१॥

श्रीभगवानुवाच:

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

श्री भगवान बोले- मुझमें मन को एकाग्र करके निरंतर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए (अर्थात् गीता अध्याय 11 श्लोक 55 में लिखे हुए प्रकार से निरन्तर मेरे में लगे हुए) जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियों में अति उत्तम योगी मान्य हैं। ॥2॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

परन्तु जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहने वाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। ॥3-4॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है। ॥5॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्नयस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

परन्तु जो मेरे परायण रहने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। (इस श्लोक का विशेष भाव जानने के लिए गीता अध्याय 11 श्लोक 55 देखना चाहिए) ॥6॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ। ॥7॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। ॥8॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्रोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप (भगवान के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वास द्वारा जप और भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि चेष्टाएँ भगवत्प्राप्ति के लिए बारंबार करने का नाम 'अभ्यास' है) योग द्वारा मुझको प्राप्त होने के लिए इच्छा कर। ॥9॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण (स्वार्थ को त्यागकर तथा परमेश्वर को ही परम आश्रय और परम गति समझकर, निष्काम प्रेमभाव से सती-शिरोमणि, पतिव्रता स्त्री की भाँति मन, वाणी और शरीर द्वारा परमेश्वर के ही लिए यज्ञ, दान और तपादि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों के करने का नाम 'भगवदर्थ कर्म करने के परायण होना' है) हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा। ॥10॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

यदि मेरी प्राप्ति रूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन को करने में भी तू असमर्थ है, तो मन-बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करने वाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग (गीता अध्याय 9 श्लोक 27 में विस्तार देखना चाहिए) कर। ॥11॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासांज्ञानाद्भयानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

कर्म को न जानकर किए हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से सब कर्मों के फल का त्याग (केवल भगवदर्थ कर्म करने वाले पुरुष का भगवान में प्रेम और श्रद्धा तथा भगवान का चिन्तन भी बना रहता है, इसलिए ध्यान से 'कर्मफल का त्याग' श्रेष्ठ कहा है) श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है। ॥12॥

(भगवत्-प्राप्त पुरुषों के लक्षण)

अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

जो पुरुष सब भूतों में द्वेष भाव से रहित, स्वार्थ रहित सबका प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किए हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चय वाला है- वह मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। ॥13-14॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष (दूसरे की उन्नति को देखकर संताप होने का नाम 'अमर्ष' है), भय और उद्वेगादि से रहित है वह भक्त मुझको प्रिय है। ॥15॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मदभक्तः स मे प्रियः ॥

जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध (गीता अध्याय 13 श्लोक 7 की टिप्पणी में इसका विस्तार देखना चाहिए) चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है- वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है। ॥16॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है- वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। ॥17॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥

जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादि द्वंद्वों में सम है और आसक्ति से रहित है। ॥18॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है- वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान पुरुष मुझको प्रिय है। ॥19॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

परन्तु जो श्रद्धायुक्त (वेद, शास्त्र, महात्मा और गुरुजनों के तथा परमेश्वर के वचनों में प्रत्यक्ष के सदृश विश्वास का नाम 'श्रद्धा' है) पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं। ॥20॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥12॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः – क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग

(ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विषय)

श्री भगवानुवाचः

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

श्री भगवान् बोले- हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' (जैसे खेत में बोए हुए बीजों का उनके अनुरूप फल समय पर प्रकट होता है, वैसे ही इसमें बोए हुए कर्मों के संस्कार रूप बीजों का फल समय पर प्रकट होता है, इसलिए इसका नाम 'क्षेत्र' ऐसा कहा है) इस नाम से कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से उनके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं। ॥1॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान (गीता अध्याय 15 श्लोक 7 और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिए) और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकार सहित प्रकृति और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है (गीता अध्याय 13 श्लोक 23 और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिए) वह ज्ञान है- ऐसा मेरा मत है। ॥2॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारण से जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है- वह सब संक्षेप में मुझसे सुन। ॥3॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमदिभर्विनिश्चितैः ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और विविध वेदमन्त्रों द्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किए हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी कहा गया है। ॥4॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध- ॥5॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना (शरीर और अन्तःकरण की एक प्रकार की चेतन-शक्ति) और धृति (गीता अध्याय 18 श्लोक 34 व 35 तक देखना चाहिए) इस प्रकार विकारों (पाँचवें श्लोक में कहा हुआ तो क्षेत्र का स्वरूप समझना चाहिए और इस श्लोक में कहे हुए इच्छादि क्षेत्र के विकार समझने चाहिए) के सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया। ॥6॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहार से द्रव्य की और उसके अन्न से आहार की तथा यथायोग्य बर्ताव से आचरणों की और जल-मृत्तिकादि से शरीर की शुद्धि को बाहरी की शुद्धि कहते हैं तथा राग, द्वेष और कपट आदि विकारों का नाश होकर अन्तःकरण का स्वच्छ हो जाना भीतर की शुद्धि कही जाती है।) अन्तःकरण की स्थिरता और मन-इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह। ॥7॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना। ॥8॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना। ॥9॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

मुझ परमेश्वर में अनन्य योग द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति (केवल एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके, श्रद्धा और भाव सहित परमप्रेम से भगवान का निरन्तर चिन्तन करना 'अव्यभिचारिणी' भक्ति है) तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना। ॥10॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अध्यात्म ज्ञान में (जिस ज्ञान द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु जानी जाए, उस ज्ञान का नाम 'अध्यात्म ज्ञान' है) नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना- यह सब ज्ञान (इस अध्याय के श्लोक 7 से लेकर यहाँ तक जो साधन कहे हैं, वे सब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में हेतु होने से 'ज्ञान' नाम से कहे गए हैं) है और जो इसके विपरीत है वह अज्ञान (ऊपर कहे हुए ज्ञान के साधनों से विपरीत तो मान, दम्भ, हिंसा आदि हैं, वे अज्ञान की वृद्धि में हेतु होने से 'अज्ञान' नाम से कहे गए हैं) है- ऐसा कहा है।

॥11॥

ज्ञेयं यत्तत्त्वप्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही। ॥12॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

वह सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है, क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है। (आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का कारण रूप होने से उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारण रूप होने से सम्पूर्ण चराचर जगत को व्याप्त करके स्थित है) ॥13॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।

॥14॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञयं दूरस्थं चान्ति के चतत् ॥

वह चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है। और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय (जैसे सूर्य की किरणों में स्थित हुआ जल सूक्ष्म होने से साधारण मनुष्यों के जानने में नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होने से साधारण मनुष्यों के जानने में नहीं आता है) है तथा अति समीप में (वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होने से अत्यन्त समीप है) और दूर (श्रद्धारहित, अज्ञानी पुरुषों के लिए न जानने के कारण बहुत दूर है) में भी स्थित वही है। ॥15॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है (जैसे महाकाश विभागरहित स्थित हुआ भी घड़ों में पृथक-पृथक के सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा सब भूतों में एक रूप से स्थित हुआ भी पृथक-पृथक की भाँति प्रतीत होता है) तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णु रूप से भूतों को धारण-पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला है। ॥16॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

वह परब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति (गीता अध्याय 15 श्लोक 12 में देखना चाहिए) एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्त्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है। ॥17॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

इस प्रकार क्षेत्र (श्लोक 5-6 में विकार सहित क्षेत्र का स्वरूप कहा है) तथा ज्ञान (श्लोक 7 से 11 तक ज्ञान अर्थात् ज्ञान का साधन कहा है।) और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप (श्लोक 12 से 17 तक ज्ञेय का स्वरूप कहा है) संक्षेप में कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्व से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

॥18॥

(ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुष का विषय)

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

प्रकृति और पुरुष- इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान। ॥19॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

कार्य (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध -इनका नाम 'कार्य' है) और करण (बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा- इन 13 का नाम 'करण' है) को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखों के भोक्तृपन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है। ॥20॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

प्रकृति में (प्रकृति शब्द का अर्थ गीता अध्याय 7 श्लोक 14 में कही हुई भगवान की त्रिगुणमयी माया समझना चाहिए) स्थित ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। (सत्त्वगुण के संग से देवयोनि में एवं रजोगुण के संग से मनुष्य योनि में और तमो गुण के संग से पशु आदि नीच योनियों में जन्म होता है।) ॥21॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥

इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा- ऐसा कहा गया है। ॥22॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्व से जानता है (दृश्यमात्र सम्पूर्ण जगत माया का कार्य होने से क्षणभंगुर, नाशवान, जड़ और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी एवं शुद्ध, बोधस्वरूप, सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ही सनातन अंश है, इस प्रकार समझकर सम्पूर्ण मायिक पदार्थों के संग का सर्वथा त्याग करके परम पुरुष परमात्मा में ही एकीभाव से नित्य स्थित रहने का नाम उनको 'तत्व से जानना' है) वह सब प्रकार से कर्तव्य कर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता। ॥23॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान (जिसका वर्णन गीता अध्याय 6 में श्लोक 11 से 32 तक विस्तारपूर्वक किया है) द्वारा हृदय में देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोग (जिसका वर्णन गीता अध्याय 2 में श्लोक 11 से 30 तक विस्तारपूर्वक किया है) द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग (जिसका वर्णन गीता अध्याय 2 में श्लोक 40 से अध्याय समाप्तिपर्यन्त विस्तारपूर्वक किया है) द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं। ॥24॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मंदबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्व के जानने वाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागर को निःसंदेह तर जाते हैं। ॥25॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

हे अर्जुन! यावन्मात्र जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्ना जान। ॥26॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है वही यथार्थ देखता है। ॥27॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है। ॥28॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। ॥29॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक-पृथक भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ॥30॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

हे अर्जुन! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। ॥31॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता। ॥32॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। ॥33॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को (क्षेत्र को जड़, विकारी, क्षणिक और नाशवान तथा क्षेत्रज्ञ को नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही 'उनके भेद को जानना' है) तथा कार्य सहित प्रकृति से मुक्त होने को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। ॥34॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥13॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः – गुणत्रयविभागयोग

(ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति)

श्री भगवानुवाचः

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानं मानमुत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परं सिद्धिमितो गताः ॥

श्री भगवान् बोले- ज्ञानों में भी अतिउत्तम उस परम ज्ञान को मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं। ॥1॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

इस ज्ञान को आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होते। ॥2॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल-प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन समुदायरूप गर्भ को स्थापन करता हूँ। उस जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। ॥3॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

हे अर्जुन! नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर धारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भधारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापन करने वाला पिता हूँ। ॥4॥

(सत्, रज, तम- तीनों गुणों का विषय)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण -ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। ॥5॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥

हे निष्पाप! उन तीनों गुणों में सत्त्वगुण तो निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और विकार रहित है, वह सुख के सम्बन्ध से और ज्ञान के सम्बन्ध से अर्थात् उसके अभिमान से बाँधता है। ॥6॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥

हे अर्जुन! रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को कर्मों और उनके फल के सम्बन्ध में बाँधता है। ॥7॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

हे अर्जुन! सब देहाभिमानीयों को मोहित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद (इंद्रियों और अंतःकरण की व्यर्थ चेष्टाओं का नाम प्रमाद है) आलस्य (कर्तव्य कर्म में अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमता का नाम आलस्य है) और निद्रा द्वारा बाँधता है। ॥8॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुख में लगाता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को ढँककर प्रमाद में भी लगाता है। ॥9॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण होता है अर्थात् बढ़ता है। ॥10॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्नकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

जिस समय इस देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और विवेक शक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा है। ॥11॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

हे अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धि से कर्मों का सकामभाव से आरम्भ, अशान्ति और विषय भोगों की लालसा- ये सब उत्पन्न होते हैं। ॥12॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

हे अर्जुन! तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियाँ - ये सब ही उत्पन्न होते हैं। ॥13॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है। ॥14॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥

रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता

है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढयोनियों में उत्पन्न होता है। ॥15॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥

श्रेष्ठ कर्म का तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है, राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है। ॥16॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निःसन्देह लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद (इसी अध्याय के श्लोक 13 में देखना चाहिए) और मोह (इसी अध्याय के श्लोक 13 में देखना चाहिए) उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है। ॥17॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्य लोक में ही रहते हैं और तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त होते हैं। ॥18॥

(भगवत्प्राप्ति का उपाय और गुणातीत पुरुष के लक्षण)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

॥19॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

यह पुरुष शरीर की (बुद्धि, अहंकार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच इन्द्रियों के विषय- इस प्रकार इन तेईस तत्त्वों का पिण्ड रूप यह स्थूल शरीर प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों का ही कार्य है, इसलिए इन तीनों गुणों को इसी की उत्पत्ति का कारण कहा है) उत्पत्ति के कारणरूप इन तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है। ॥20॥

अर्जुन उवाच:

कैर्लिङ्गस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥

अर्जुन बोले- इन तीनों गुण से अतीत पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है तथा है प्रभो! मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है? ॥21॥

श्री भगवन्वाच:

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥

श्री भगवान् बोले- हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश (अन्तःकरण और इन्द्रियादि को आलस्य का अभाव होकर जो एक प्रकार की चेतनता होती है, उसका नाम 'प्रकाश' है) को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह (निद्रा और आलस्य आदि की बहुलता से अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतन शक्ति के लय होने को यहाँ 'मोह' नाम से समझना चाहिए) को भी न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है। (जो पुरुष एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही नित्य, एकीभाव से स्थित हुआ इस त्रिगुणमयी माया के प्रपंच रूप संसार से सर्वथा अतीत हो गया है, उस गुणातीत पुरुष के अभिमानरहित अन्तःकरण में तीनों गुणों के कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहादि वृत्तियों के प्रकट होने और न होने पर किसी काल में भी इच्छा-द्वेष आदि विकार नहीं होते हैं, यही उसके गुणों से अतीत होने के प्रधान लक्षण हैं) ॥22॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नैंगते ॥

जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणों में बरतते (त्रिगुणमयी माया से उत्पन्न हुए अन्तःकरण सहित इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में विचरना ही 'गुणों का गुणों में बरतना' है) हैं- ऐसे समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है एवं उस स्थिति से कभी विचलित नहीं होता। ॥23॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

जो निरन्तर आत्म भाव में स्थित, दुःख-सुख को समान समझने वाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रिय को एक-सा मानने वाला और अपनी निन्दा-स्तुति में भी समान भाव वाला है। ॥24॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सा उच्यते ॥

जो मान और अपमान में सम हैं, मित्र और वैरी के पक्ष में भी सम हैं एवं सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित हैं, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है। ॥25॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्येतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्ति योग (केवल एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर वासुदेव भगवान को ही अपना स्वामी मानता हुआ, स्वार्थ और अभिमान को त्याग कर श्रद्धा और भाव सहित परम प्रेम से निरन्तर चिन्तन करने को 'अव्यभिचारी भक्तियोग' कहते हैं) द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणों को भलीभाँति लॉघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होने के लिए योग्य बन जाता है। ॥26॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्य धर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय मैं हूँ। ॥27॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गवदीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नामचतुर्दशोऽध्यायः॥14॥

अथ पंचदशोऽध्यायः – पुरुषोत्तमयोग

(संसार वृक्ष का कथन और भगवत्प्राप्ति का उपाय)

श्रीभगवानुवाचः

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

श्री भगवान् बोले- आदिपुरुष परमेश्वर रूप मूल वाले (आदि पुरुष नारायण वासुदेव भगवान ही नित्य और अनन्त तथा सबके आधार होने के कारण और समसे ऊपर नित्यधाम में सगुणरूप से वास करने के कारण ऊर्ध्व नाम से कहे गए हैं और वे मायापति, सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही इस संसाररूप वृक्ष के कारण हैं, इसलिए इस संसार वृक्ष को 'ऊर्ध्वमूल वाला' कहते हैं) और ब्रह्मरूप मुख्य शाखा वाले (उस आदिपुरुष परमेश्वर से उत्पत्ति वाला होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में वास करने के कारण, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मा को परमेश्वर की अपेक्षा 'अधः' कहा है और वही इस संसार का विस्तार करने वाला होने से इसकी मुख्य शाखा है, इसलिए इस संसार वृक्ष को 'अधःशाखा वाला' कहते हैं) जिस संसार रूप पीपल वृक्ष को अविनाशी (इस वृक्ष का मूल कारण परमात्मा अविनाशी है तथा अनादिकाल से इसकी परम्परा चली आती है, इसलिए इस संसार वृक्ष को 'अविनाशी' कहते हैं) कहते हैं, तथा वेद जिसके पत्ते (इस वृक्ष की शाखा रूप ब्रह्मा से प्रकट होने वाले और यज्ञादि कर्मों द्वारा इस संसार वृक्ष की रक्षा और वृद्धि करने वाले एवं शोभा को बढ़ाने वाले होने से वेद 'पत्ते' कहे गए हैं) कहे गए हैं, उस संसार रूप वृक्ष को जो पुरुष मूलसहित सत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। (भगवान् की योगमाया से उत्पन्न हुआ संसार क्षणभंगुर, नाशवान और दुःखरूप है, इसके चिन्तन को त्याग कर केवल परमेश्वर ही नित्य-निरन्तर, अनन्य प्रेम से चिन्तन करना 'वेद के तात्पर्य को जानना' है) ॥1॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसन्तानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥

उस संसार वृक्ष की तीनों गुणोंरूप जल द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय-भोग रूप कोंपलों वाली (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -ये पाँचों स्थूलदेह और इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण उन शाखाओं की 'कोंपलों'

केरूप में कहे गए हैं।) देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ (मुख्य शाखा रूप ब्रह्मा से सम्पूर्ण लोकों सहित देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियों की उत्पत्ति और विस्तार हुआ है, इसलिए उनका यहाँ 'शाखाओं' के रूप में वर्णन किया है) नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्य लोक में (अहंता, ममता और वासनारूप मूलों को केवल मनुष्य योनि में कर्मों के अनुसार बाँधने वाली कहने का कारण यह है कि अन्य सब योनियों में तो केवल पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगने का ही अधिकार है और मनुष्य योनि में नवीन कर्मों के करने का भी अधिकार है) कर्मों के अनुसार बाँधने वाली अहंता-ममता और वासना रूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं। ॥2॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरुद्धमूल मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

इस संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचार काल में नहीं पाया जाता (इस संसार का जैसा स्वरूप शास्त्रों में वर्णन किया गया है और जैसा देखा-सुना जाता है, वैसा तत्त्व ज्ञान होने के पश्चात नहीं पाया जाता, जिस प्रकार आँख खुलने के पश्चात स्वप्न का संसार नहीं पाया जाता) क्योंकि न तो इसका आदि है (इसका आदि नहीं है, यह कहने का प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कब से चली आ रही है, इसका कोई पता नहीं है) और न अन्त है (इसका अन्त नहीं है, यह कहने का प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कब तक चलती रहेगी, इसका कोई पता नहीं है) तथा न इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति ही है (इसकी अच्छी प्रकार स्थिति भी नहीं है, यह कहने का प्रयोजन यह है कि वास्तव में यह क्षणभंगुर और नाशवान है) इसलिए इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलों वाले संसार रूप पीपल के वृक्ष को दृढ़ वैराग्य रूप (ब्रह्मालोक तक के भोग क्षणिक और नाशवान हैं, ऐसा समझकर, इस संसार के समस्त विषयभोगों में सत्ता, सुख, प्रीति और रमणीयता का न भासना ही 'दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र' है) शस्त्र द्वारा काटकर (स्थावर, जंगमरूप यावन्मात्र संसार के चिन्तन का तथा अनादिकाल से अज्ञान द्वारा दृढ़ हुई अहंता, ममता और वासना रूप मूलों का त्याग करना ही संसार वृक्ष का अवान्तर 'मूलों सहित काटना' है। ॥3॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्नाता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

उसके पश्चात उस परम-पदरूप परमेश्वर को भलीभाँति खोजना चाहिए, जिसमें गए हुए पुरुष फिर लौटकर संसार में नहीं आते और जिस परमेश्वर से इस पुरातन संसार वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष नारायण के मैं शरण हूँ- इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वर का मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। ॥4॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषाअध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं- वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं। ॥5॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम ॥

जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसार में नहीं आते उस स्वयं प्रकाश परम पद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही, वही मेरा परम धाम ('परम धाम' का अर्थ गीता अध्याय 8 श्लोक 21 में देखना चाहिए) है। ॥6॥

(जीवात्मा का विषय)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है (जैसे विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश घटों में पृथक-पृथक की भाँति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतों में एकीरूप से स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक-पृथक की भाँति प्रतीत होता है, इसी से देह में स्थित जीवात्मा को भगवान ने अपना 'सनातन अंश' कहा है) और वही इन प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है। ॥7॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीर का त्याग करता है, उससे इन मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है- उसमें जाता है। ॥8॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके -अर्थात् इन सबके सहारे से ही विषयों का सेवन करता है। ॥9॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

शरीर को छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को अथवा विषयों को भोगते हुए को इस प्रकार तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रों वाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्व से जानते हैं। ॥10॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

यंत्र करने वाले योगीजन भी अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को तत्त्व से जानते हैं, किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं जानते। ॥11॥

(प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का विषय)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है- उसको तू मेरा ही तेज जान। ॥12॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्पामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियों को अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ। ॥13॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

में ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित रहने वाला प्राण और अपान से संयुक्त वैश्वानर अग्नि रूप होकर चार (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य, ऐसे चार प्रकार के अन्न होते हैं, उनमें जो चबाकर खाया जाता है, वह 'भक्ष्य' है- जैसे रोटी आदि। जो निगला जाता है, वह 'भोज्य' है- जैसे दूध आदि तथा जो चाटा जाता है, वह 'लेह्य' है- जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है, वह 'चोष्य' है- जैसे ईख आदि) प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। ॥14॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्योवेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

में ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (विचार द्वारा बुद्धि में रहने वाले संशय, विपर्यय आदि दोषों को हटाने का नाम 'अपोहन' है) होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य (सर्व वेदों का तात्पर्य परमेश्वर को जानने का है, इसलिए सब वेदों द्वारा 'जानने के योग्य' एक परमेश्वर ही हैं) हूँ तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ। ॥15॥

(क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम का विषय)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

इस संसार में नाशवान और अविनाशी भी ये दो प्रकार (गीता अध्याय 7 श्लोक 4-5 में जो अपरा और परा प्रकृति के नाम से कहे गए हैं तथा अध्याय 13 श्लोक 1 में जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नाम से कहे गए हैं, उन्हीं दोनों का यहाँ क्षर और अक्षर के नाम से वर्णन किया है) के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है। ॥16॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोक में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा -इस प्रकार कहा गया है। ॥17॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

क्योंकि मैं नाशवान जडवर्ग- क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। ॥18॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है। ॥19॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है। ॥20॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥15॥

अथ षोडशोऽध्यायः – दैवासुरसम्पद्विभागयोग

(फलसहित दैवी और आसुरी संपदा का कथन)

श्री भगवानुवाचः

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

श्री भगवान् बोले- भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति (परमात्मा के स्वरूप को तत्त्व से जानने के लिए सध्यादानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में एकी भाव से ध्यान की निरन्तर गाढ़ स्थिति का ही नाम 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' समझना चाहिए) और सात्त्विक दान (गीता अध्याय 17 श्लोक 20 में जिसका विस्तार किया है), इन्द्रियों का दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता ॥1॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण (अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे-का-वैसा ही प्रिय शब्दों में कहने का नाम 'सत्यभाषण' है), अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव ॥2॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

तेज (श्रेष्ठ पुरुषों की उस शक्ति का नाम 'तेज' है कि जिसके प्रभाव से उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृति वाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरण से रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं), क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि (गीता अध्याय 13 श्लोक 7 की टिप्पणी देखनी चाहिए) एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव- ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं ॥3॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पाठुष्यमेव च।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी- ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं ॥4॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

दैवी-सम्पदा मुक्ति के लिए और आसुरी-सम्पदा बाँधने के लिए मानी गई है। इसलिए हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है ॥5॥

(आसुरी संपदा वालों के लक्षण और उनकी अधोगति का कथन)

द्वौ भूतसर्गो लोकास्मिन्दैव आसुर एव च।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ में शृणु॥

हे अर्जुन! इस लोक में भूतों की सृष्टि यानी मनुष्य समुदाय दो ही प्रकार का है, एक तो दैवी प्रकृति वाला और दूसरा आसुरी प्रकृति वाला। उनमें से दैवी प्रकृति वाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य समुदाय को भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥6॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥

आसुर स्वभाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति - इन दोनों को ही नहीं जानते। इसलिए उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य भाषण ही है। ॥7॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥

वे आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वर के, अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है? ॥8॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

इस मिथ्या ज्ञान को अवलम्बन करके- जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सब अपकार करने वाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् के नाश के लिए ही समर्थ होते हैं ॥9॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।

मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

वे दम्भ, मान और मद से युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धांतों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं ॥10॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहने वाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले, विषयभोगों के भोगने में तत्पर रहने वाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार मानने वाले होते हैं ॥11॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर विषय भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं ॥12॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जाएगा ॥13॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं को भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ। मैं सब सिद्धियों से युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ ॥14॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित रहने वाले तथा अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले मोहरूप जाल से समावृत और विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥15-16॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त होकर केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ॥17॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण और दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करने वाले होते हैं ॥18॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजरुमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ ॥19॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्यधमां गतिम्॥

हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर ही जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकों में पड़ते हैं ॥20॥

शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्रानुकूल आचरणों के लिए प्रेरणा)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध तथा लोभ- ये तीन प्रकार के नरक के द्वार (सर्व अनर्थों के मूल और नरक की प्राप्ति में हेतु होने से यहाँ काम, क्रोध और लोभ को 'नरक के द्वार' कहा है) आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् उसको अधोगति में ले जाने वाले हैं। अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिए ॥21॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

हे अर्जुन! इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है (अपने उद्धार के लिए अभवदाज्ञानुसार बरतना ही 'अपने कल्याण का आचरण करना' है), इससे वह परमगति को जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ॥22॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

जो पुरुष शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति को और न सुख को ही ॥23॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

इससे तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि से नियत कर्म ही करने योग्य है ॥24॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥16॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः – श्रद्धात्रयविभागयोग

(श्रद्धा और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का विषय)

अर्जुन उवाचः

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्यागकर श्रद्धा से युक्त हुए देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी? ॥1॥

श्री भगवानुवाचः

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥

श्री भगवान् बोले- मनुष्यों की वह शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा (अनन्त जन्मों में किए हुए कर्मों के सञ्चित संस्कार से उत्पन्न हुई श्रद्धा “स्वभावजा” श्रद्धा कही जाती है।) सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी-ऐसे तीनों प्रकार की ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ॥2॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ॥3॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये जयन्ते तामसा जनाः ॥

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं ॥4॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित केवल मनः कल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं ॥5॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं (शास्त्र से विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणों द्वारा शरीर को सुखाना एवं भगवान् के अंशस्वरूप जीवात्मा को क्लेश देना, भूत समुदाय को और अन्तर्यामी परमात्मा को “कृश करना” है।), उन अज्ञानियों को तू आसुर स्वभाव वाले जान ॥6॥

(आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक-पृथक भेद)

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेद को तू मुझ से सुन ॥7॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

आयु, बुद्धि, बल, अरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले (जिस भोजन का सार शरीर में बहुत काल तक रहता है, उसको स्थिर रहने वाला कहते हैं।) तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय-ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं॥8॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ॥9॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है ॥10॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधानय स सात्त्विकः॥

जो शास्त्र विधि से नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है- इस प्रकार मन को समाधान करके, फल न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥11॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥

परन्तु है अर्जुन! केवल दम्भाचरण के लिए अथवा फल को भी दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान ॥12॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

शास्त्र विधि से हीन, अन्न दान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किए जाने वाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं ॥13॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु, (यहाँ 'गुरु' शब्द से माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपने से जो किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबको समझना चाहिए।) और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा- यह शरीर- सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥14॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है (मन और इन्द्रियों द्वारा जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा ही कहने का नाम 'यथार्थ भाषण' है।) तथा जो वेद- शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम- जप का अभ्यास है- वही वाणी- सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥15॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवतचिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता, इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥16॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किए हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं ॥17॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमधुवम्॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित ('अनिश्चित फल वाला' उसको कहते हैं कि जिसका फल होने न होने में शङ्का हो।) एवं क्षणिक फल वाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥18॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है- वह तप तामस कहा गया है ॥19॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

दान देना ही कर्तव्य है- ऐसे भाव से जो दान देश तथा काल (जिस देश-काल में जिस वस्तु का अभाव हो, वही देश-काल, उस वस्तु द्वारा प्राणियों की सेवा करने के लिए योग्य समझा जाता है।) और पात्र के (भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र और औषधि एवं जिस वस्तु का जिसके पास अभाव हो, उस वस्तु द्वारा सेवा करने के लिए योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणों वाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकार के पदार्थों द्वारा सेवा करने के लिए योग्य पात्र समझे जाते हैं।) प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥20॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक (जैसे प्रायः वर्तमान समय के चन्दे-चिट्टे आदि में धन दिया जाता है।) तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में (अर्थात् मान बढ़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए अथवा रोगादि की निवृत्ति के लिए।) रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥21॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-काल में और कुपात्र के प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥22॥

(ॐतत्सत् के प्रयोग की व्याख्या)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

ॐ, तत्, सत्-ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है, उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गए ॥23॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।

प्रवर्तन्ते विधानोक्तः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

इसलिए वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत यज्ञ, दान और तपस्वरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥24॥

तदित्यनभिसन्दाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।

दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

तत् अर्थात् 'तत्' नाम से कहे जाने वाले परमात्मा का ही यह सब है- इस भाव से फल को न चाहकर नाना प्रकार के यज्ञ, तपस्वरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याण की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं ॥25॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्यतत्प्रयुज्यते।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

'सत्'- इस प्रकार यह परमात्मा का नाम सत्यभाव में और श्रेष्ठभाव में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्म में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥26॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति वोच्यते।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्यवाभिधीयते ॥

तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्मा के लिए किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्-ऐसे कहा जाता है ॥27॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है- वह समस्त 'असत्'- इस प्रकार कहा जाता है, इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही ॥28॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री

कृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥17॥

अथाष्टादशोऽध्यायः – मोक्षसंन्यासयोग

(त्याग का विषय)

अर्जुन उवाचः

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

अर्जुन बोले- हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥1॥

श्री भगवानुवाचः

काम्यानां कर्मणा न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

श्री भगवान बोले- कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों के (स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तथा रोग-संकटादि की निवृत्ति के लिए जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किए जाते हैं, उनका नाम काम्यकर्म है।)

त्याग को सन्न्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को (ईश्वर की भक्ति, देवताओं का पूजन, माता-पितादि गुरुजनों की सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रम के अनुसार आजीविका द्वारा गृहस्थ का निर्वाह एवं शरीर संबंधी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें इस लोग और परलोक की सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग का नाम सब कर्मों के फल का त्याग है) त्याग कहते हैं। ॥2॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

कई एक विद्वान ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं और दूसरे विद्वान यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। ॥3॥

निश्चयं शृणु में तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! सन्न्यास और त्याग, इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। ॥4॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप -ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों को (वह मनुष्य बुद्धिमान है, जो फल और आसक्ति को त्याग कर केवल भगवदर्थ कर्म करता है।) पवित्र करने वाले हैं। ॥5॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

इसलिए हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। ॥6॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

(निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियत कर्म का (इसी अध्याय के श्लोक 48 की टिप्पणी में इसका अर्थ देखना चाहिए।) स्वरूप से त्याग करना उचित नहीं है। इसलिए मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है। ॥7॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है- ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्तव्य-कर्मों का त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता। ॥8॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेअर्जुन ।

सङं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

हे अर्जुन! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है- इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है- वही सात्त्विक त्याग माना गया है। ॥9॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

जो मनुष्य अकुशल कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता- वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है। ॥10॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्य द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इसलिए जो कर्मफल त्यागी है, वही त्यागी है- यह कहा जाता है। ॥11॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्नयासिनां क्वचित् ॥

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात अवश्य होता है, किन्तु कर्मफल का त्याग कर देने वाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता। ॥12॥

(कर्मों के होने में सांख्यसिद्धांत का कथन)

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानिक निबोध मे ।

साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के ये पाँच हेतु कर्मों का अंत करने के लिए उपाय बतलाने वाले सांख्य-शास्त्र में कहे गए हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान। ॥13॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

इस विषय में अर्थात् कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान (जिसके आश्रय कर्म किए जाएँ, उसका नाम अधिष्ठान है) और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के करण (जिन-जिन इंद्रियादिकों और साधनों द्वारा कर्म किए जाते हैं, उनका नाम करण है) एवं नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव (पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के संस्कारों का नाम दैव है) है। ॥14॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है- उसके ये पाँचों कारण हैं। ॥15॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

परन्तु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि (सत्संज्ञ और शास्त्र के अभ्यास से तथा भगवदर्थ कर्म और उपासना के करने से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिए जो उपर्युक्त साधनों से रहित है, उसकी बुद्धि अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिए।) होने के कारण उस विषय में यानी कर्मों के होने में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता समझता है, वह मलीन बुद्धि वाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता। ॥16॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

जिस पुरुष के अन्तःकरण में मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मरता है और न पाप से बँधता है। (जैसे अग्नि, वायु और जल द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणी की हिंसा होती देखने में आए तो भी वह वास्तव में हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुष का देह में अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसार के हित के लिए ही जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुष के शरीर और इन्द्रियों द्वारा यदि किसी प्राणी की हिंसा होती हुई लोकदृष्टि में देखी जाए, तो भी वह वास्तव में हिंसा नहीं है क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकार के न होने से किसी प्राणी की हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्वाभिमान के किया हुआ कर्म वास्तव में अकर्म ही है, इसलिए वह पुरुष पाप से नहीं बँधता।) ॥17॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥

ज्ञाता (जाने वाले का नाम ज्ञाता है।) ज्ञान (जिसके द्वारा जाना जाए, उसका नाम ज्ञान है।) और ज्ञेय (जानने में आने वाली वस्तु का नाम ज्ञेय है।) ये तीनों प्रकार की कर्मप्रेरणा प्रेरणा है और कर्ता (कर्म करने वाले का नाम कर्ता है।) करण (जिन साधनों से कर्म किया जाए, उनका नाम करण है।) तथा क्रिया (करने का नाम क्रिया है।) ये तीनों प्रकार का कर्म संग्रह है। ॥18॥

(तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के पृथक-पृथक भेद)

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गए हैं, उनको भी तु मुझसे भलीभाँति सुन। ॥19॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक-पृथक सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। ॥20॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान। ॥21॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है- वह तामस कहा गया है। ॥22॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो- वह सात्त्विक कहा जाता है। ॥23॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहडङ्कारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा या अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।।24।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है।।25।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है- वह सात्त्विक कहा जाता है।।26।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्बुद्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

जो कर्ता आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है वह राजस कहा गया है।।27।।

आयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

जो कर्ता आयुक्त, शिक्षा से रहित घमंडी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री (दीर्घसूत्री उसको कहा जाता है कि जो थोड़े काल में होने लायक साधारण कार्य को भी फिर कर लेंगे, ऐसी आशा से बहुत काल तक नहीं पूरा करता।) है वह तामस कहा जाता है।।28।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥

हे धनंजय ! अब तू बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णता से विभागपूर्वक कहा जाने वाला सुन।।29।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति मार्ग (गृहस्थ में रहते हुए फल और आसक्ति को त्यागकर भगवदर्पण बुद्धि से केवल लोकशिक्षा के लिए राजा जनक की भाँति बरतने का नाम प्रवृत्तिमार्ग है।) और निवृत्ति मार्ग को (देहाभिमान को त्यागकर केवल सच्चिदानंदधन परमात्मा में एकीभाव स्थित हुए श्री शुकदेवजी और सनकादिकों की भाँति संसार से उपराम होकर विचरने का नाम निवृत्तिमार्ग है।) कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बंधन और मोक्ष को यथार्थ जानती है- वह बुद्धि सात्त्विकी है।।30।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।।31।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

हे अर्जुन! जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य संपूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है।।32।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारण शक्ति (भगवद्विषय के सिवाय अन्य सांसारिक विषयों को धारण करना ही व्यभिचार दोष है। उस दोष से जो रहित है वह अव्यभिचारिणी धारणा है।) से मनुष्य ध्यान योग के द्वारा मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।।33।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन! फल की इच्छा वाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा अत्यंत आसक्ति से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारण शक्ति राजसी है।।34।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिंता और दुःख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किए रहता है, वह धारण शक्ति तामसी है।।35।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुन। जिस सुख में साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अंत को प्राप्त हो जाता है, जो ऐसा सुख है, वह आरंभकाल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत (जैसे खेल में आसक्ति वाले बालक को विद्या का अभ्यास मूढ़ता के कारण प्रथम विष के तुल्य भासता है वैसे ही विषयों में आसक्ति वाले पुरुष को भगवद्भजन, ध्यान, सेवा आदि साधनाओं का अभ्यास मर्म न जानने के कारण प्रथम विष के तुल्य प्रतीत होता है) होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, इसलिए वह परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्त्विक कहा गया है।।36-37।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है, वह पहले भोगकाल में अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोक का नाश होने से विषय और इंद्रियों के संयोग से होने वाले सुख को परिणाम में विष के तुल्य कहा है) है इसलिए वह सुख राजस कहा गया है।।38।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो सुख भोगकाल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।।39।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

पृथ्वी में या आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो॥40॥

(फल सहित वर्ण धर्म का विषय)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किए गए हैं॥41॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

अंतःकरण का निग्रह करना, इंद्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिए कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध (गीता अध्याय 13 श्लोक 7 की टिप्पणी में देखना चाहिए) रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इंद्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना- ये सब-के-सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृष्टिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव- ये सब-के-सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं॥43॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार (वस्तुओं के खरीदने और बेचने में तौल, नाप और गिनती आदि से कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तु को बदलकर या एक वस्तु में दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्ती से अथवा अन्य किसी प्रकार से दूसरों के हक को ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषों से रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओं का व्यापार है उसका नाम सत्य व्यवहार है।) ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है॥44॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू सुन॥45॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जिस परमेश्वर से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है (जैसे बर्फ जल से व्याप्त है, वैसे ही संपूर्ण संसार सच्चिदानंदघन परमात्मा से व्याप्त है), उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके (जैसे पतिव्रता स्त्री पति को सर्वस्व समझकर पति का चिंतन करती हुई पति के आज्ञानुसार पति के ही लिए मन, वाणी, शरीर से कर्म करती है, वैसे ही परमेश्वर को ही सर्वस्व समझकर

परमेश्वर का चिंतन करते हुए परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार मन, वाणी और शरीर से परमेश्वर के ही लिए स्वाभाविक कर्तव्य कर्म का आचरण करना कर्म द्वारा परमेश्वर को पूजना है) मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।।46।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

अच्छी प्रकार आचरण किए हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता।।47।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म (प्रकृति के अनुसार शास्त्र विधि से नियत किए हुए वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं उनको ही यहाँ स्वधर्म, सहज कर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म इत्यादि नामों से कहा है) को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धूँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं।।48।।

(ज्ञाननिष्ठा का विषय)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अंतःकरण वाला पुरुष सांख्ययोग के द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है।।49।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

जो कि ज्ञान योग की परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य सिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार को हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेप में ही मुझसे समझ।।50।।

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त तथा हलका, सत्त्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग करके एकांत और शुद्ध देश का सेवन करने वाला, सात्त्विक धारण शक्ति के (इसी अध्याय के श्लोक 33 में जिसका विस्तार है) द्वारा अंतःकरण और इंद्रियों का संयम करके मन, वाणी और शरीर को वश में कर लेने वाला, राग-द्वेष को सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्य का आश्रय लेने वाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके निरंतर ध्यान योग के परायण रहने वाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने का पात्र होता है।।51-53।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तं लभते पराम्॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसी की आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला (गीता अध्याय

6 श्लोक 29 में देखना चाहिए) योगी मेरी पराभक्ति को (जो तत्त्व ज्ञान की पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता वही यहाँ पराभक्ति, ज्ञान की परानिष्ठा, नैष्कर्म्य सिद्धि और परमसिद्धि इत्यादि नामों से कही गई है) प्राप्त हो जाता है॥54॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्व से जान लेता है तथा उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है॥55॥

(भक्ति सहित कर्मयोग का विषय)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो संपूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है॥56॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

सब कर्मों को मन से मुझमें अर्पण करके (गीता अध्याय 9 श्लोक 27 में जिसकी विधि कही है) तथा समबुद्धि रूप योग को अवलंबन करके मेरे परायण और निरंतर मुझमें चित्तवाला हो॥57॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेतमहाडङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥

उपर्युक्त प्रकार से मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपा से समस्त संकटों को अनायास ही पार कर जाएगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को न सुनेगा तो नष्ट हो जाएगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जाएगा॥58॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा। ॥59॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बाँधा हुआ परवश होकर करेगा॥60॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽजुर्न तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया॥

हे अर्जुन! शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है॥61॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में (लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्ति को त्यागकर एवं शरीर और संसार में अहंता, ममता से रहित होकर एक परमात्मा को ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भाव से अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरंतर भगवान के

नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूप का चिंतन करते रहना एवं भगवान का भजन, स्मरण करते हुए ही उनके आज्ञा अनुसार कर्तव्य कर्मों का निःस्वार्थ भाव से केवल परमेश्वर के लिए आचरण करना यह सब प्रकार से परमात्मा के ही शरण होना है) जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शांति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा ॥62॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुमसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचार कर, जैसे चाहता है वैसे ही कर। ॥63॥

सर्वगुह्यतमं भूतः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

संपूर्ण गोपनीयों से अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। ॥64॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय है। ॥65॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

संपूर्ण धर्मों को अर्थात् संपूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान, सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण (इसी अध्याय के श्लोक 62 की टिप्पणी में शरण का भाव देखना चाहिए) में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर। ॥66॥

(श्री गीताजी का माहात्म्य)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

तुझे यह गीत रूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिए, न भक्ति रहित (वेद, शास्त्र और परमेश्वर तथा महात्मा और गुरुजनों में श्रद्धा, प्रेम और पूज्य भाव का नाम भक्ति है।) से और न बिना सुनने की इच्छा वाले से ही कहना चाहिए तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिए। ॥67॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा- इसमें कोई संदेह नहीं है। ॥68॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं। ॥69॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवाद रूप गीताशास्त्र को पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ (गीता अध्याय 4 श्लोक 33 का अर्थ देखना चाहिए) से पूजित होऊँगा- ऐसा मेरा मत है। ॥70॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभ्राल्लोकान्प्राप्नु यात्पुण्यकर्मणाम् ॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित होकर इस गीताशास्त्र का श्रवण भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा। ॥71॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्र्येण चेतसा ।

कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥

हे पार्थ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया? और हे धनञ्जय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया? ॥72॥

अर्जुन उवाचः

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वप्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्जुन बोले- हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थिर हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। ॥73॥

संजय उवाचः

इत्थं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादमिममश्रीषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥

संजय बोले- इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवाद को सुना। ॥74॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।

योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

श्री व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सुना। ॥75॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥

हे राजन्! भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। ॥76॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

हे राजन्! श्री हरि (जिसका स्मरण करने से पापों का नाश होता है उसका नाम हरि है) के उस अत्यंत विलक्षण रूप को भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। ॥77॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

हे राजन्! जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन है, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है- ऐसा मेरा मत है। ॥78॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्नयासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥१८॥